

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभागभवेत् ॥

वर्ष
७५

गोरखपुर, सौर माघ, वि० सं० २०५७, श्रीकृष्ण-सं० ५२२६, जनवरी २००१ ई०

संख्या
१

पूर्ण संख्या ८९०

भगवान् शिवकी शरणागतिसे परम कल्याणकी प्राप्ति

कृत्स्नस्य योऽस्य जगतः सचराचरस्य कर्ता कृतस्य च तथा सुखदुःखदाता।
संसारहेतुरपि यः पुनरन्तकालस्तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि॥
यं योगिनो विगतमोहतमोरजस्का भक्त्यैकतानमनसो विनिवृत्तकामाः।
ध्यायन्ति चाखिलधियोऽमितदिव्यमूर्तिं तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि॥

‘जो इस सम्पूर्ण चराचर-जगत्के कर्ता और इसे अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार सुख-दुःख देनेवाले हैं, जो संसारकी उत्पत्तिके हेतु तथा उसका अन्तकाल भी स्वयं ही हैं, सबको शरण देनेवाले उन्हीं भगवान् शङ्करकी मैं शरण लेता हूँ। जिनके मोह, तमोगुण और रजोगुण दूर हो गये हैं, वे योगीजन, भक्तिसे मनको एकाग्र रखनेवाले निष्काम भक्त तथा अपरिच्छिन्न बुद्धिवाले ज्ञानी भी जिनका निरन्तर ध्यान करते हैं, उन अनन्त दिव्यस्वरूप शरणदाता भगवान् शङ्करकी मैं शरण लेता हूँ।’



वैदिक शुभांसा

[रोगनिवारण-सूक्त]

[अथर्ववेदके चतुर्थ काण्डका १३वाँ सूक्त तथा ऋग्वेदके दशम मण्डलका १३७वाँ सूक्त 'रोगनिवारण-सूक्त' के नामसे प्रसिद्ध हैं। अथर्ववेदमें अनुष्टुप् छन्दके इस सूक्तके ऋषि शंताति तथा देवता चन्द्रमा एवं विश्वेदेवा हैं। जब कि ऋग्वेदमें प्रथम मन्त्रके ऋषि भरद्वाज, द्वितीयके कश्यप, तृतीयके गौतम, चतुर्थके अत्रि, पञ्चमके विश्वामित्र, षष्ठके जमदग्नि तथा सप्तम मन्त्रके ऋषि वसिष्ठजी हैं और देवता विश्वेदेवा हैं। इस सूक्तके जप-पाठसे रोगोंसे मुक्ति अर्थात् आरोग्यता प्राप्त होती है। ऋषिने रोगमुक्तिके लिये ही देवोंसे प्रार्थना की है—]

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।

उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

हे देवो! हे देवो! आप नीचे गिरे हुएको फिर निश्चयपूर्वक ऊपर उठाएँ। हे देवो! हे देवो! और पाप करनेवालेको भी फिर जीवित करें, जीवित करें।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।

दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥

ये दो वायु हैं। समुद्रसे आनेवाला पहला वायु है और दूर भूमिपरसे आनेवाला दूसरा वायु है। इनमेंसे एक वायु तेरे पास बल ले आये और दूसरा वायु जो दोष है, उसे दूर करे।

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।

त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

हे वायु! ओषधि यहाँ ले आ! हे वायु! जो दोष है, वह दूर कर। हे सम्पूर्ण ओषधियोंको साथ रखनेवाले वायु! निःसंदेह तू देवोंका दूत-जैसा होकर चलता है, जाता है, प्रवाहित है।

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।

त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥

हे देवो! इस रोगीकी रक्षा करें। हे मरुतोंके समूहो! रक्षा करें। सब प्राणी रक्षा करें। जिससे यह रोगी रोग-दोषरहित हो जाये।

आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।

दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

आपके पास शान्ति फैलानेवाले तथा अविनाशी साधनोंके साथ आया हूँ। तेरे लिये प्रचण्ड बल भर देता हूँ। तेरे रोगको दूर कर भगा देता हूँ।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।

अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः* ॥ ६ ॥

मेरा यह हाथ भाग्यवान् है। मेरा यह हाथ अधिक भाग्यशाली है। मेरा यह हाथ सब ओषधियोंसे युक्त है और मेरा यह हाथ शुभ-स्पर्श देनेवाला है।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।

अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

दस शाखावाले दोनों हाथोंके साथ वाणीको आगे प्रेरणा करनेवाली मेरी जीभ है। उन नीरोग करनेवाले दोनों हाथोंसे तुझे हम स्पर्श करते हैं।



* ऋग्वेदमें 'अयं मे हस्तो' के स्थानपर यह दूसरा मन्त्र उल्लिखित है—

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥

जल ही निःसंदेह ओषधि है। जल रोग दूर करनेवाला है। जल सब रोगोंकी ओषधि है। वह जल तेरे लिये ओषधि बनावे।

आरोग्य-सुभाषित-मुक्तावली

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः।

तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत्॥

सुख-दुःखका कर्ता व्यक्ति स्वयं ही होता है, ऐसा समझकर कल्याणकारी मार्गका ही अवलम्बन लेना चाहिये, फिर भयभीत होनेकी कोई बात नहीं।

हितमेवानुद्ध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः।

रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः॥

परीक्षक—विवेकीजन (सारासारविचारद्वारा) ठीक-ठीक परीक्षा करके हितकर मार्गका सेवन करते हैं, परंतु रजोगुण और तमोगुणसे आवृत बुद्धिवाले लौकिक मनुष्य (हिताहितका विचार न करके तत्काल) प्रिय (मालूम होनेवाले आचार आदि)—का सेवन करते हैं (इसीलिये दुःखी होते हैं)।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।

सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्॥

सम्पूर्ण प्राणियोंकी सभी चेष्टाएँ सुख-प्राप्त करनेके लिये ही होती हैं और वह सुख बिना धर्माचरणके प्राप्त हो नहीं सकता, अतः धर्ममें परायण रहना चाहिये।

अवृत्तिव्याधिशोकार्ताननुवर्तेत शक्तितः।

आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्॥

जो आजीविकारहित हैं, रोगोंसे ग्रस्त हैं और शोकसे पीडित हैं—ऐसे मनुष्योंकी यथाशक्ति सेवा-सहायता करनी चाहिये। कीड़े-मकोड़े और चींटी आदि सभी प्राणियोंको सदा अपने ही समान देखे अर्थात् सबमें आत्मबुद्धि रखे।

अर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् ।

विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत्॥

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ।

देवता, गौ, ब्राह्मण, वृद्ध (वयोवृद्ध, शीलवृद्ध, ज्ञानवृद्ध), वैद्य, राजा और अतिथि—इनका यथायोग्य सम्मान करे। याचकोंको विमुख न जाने दे। कठोर वचन कहकर उनका तिरस्कार न करे। अपकारपरायण शत्रुके साथ भी उपकार ही करे।

काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम्।

पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः॥

प्रसंग आनेपर हितकारी, थोड़े, कानोंको प्रिय और मीठे लगनेवाले तथा वाद-विवादरहित वचनोंको बोलना चाहिये। अपने पास आनेवालोंके साथ प्रथम स्वयं ही बोलना चाहिये, उनके बोलनेकी अपेक्षा न करे। सदा हँसमुख रहे। शील-विनयसे सम्पन्न, दयावान् और कोमल चित्तवाला रहे।

मृत्योर्विभेषि किं मूढ भीतं मुञ्जति किं यमः।

अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि॥

अरे मूर्ख (मनुष्य)! क्या तुम मृत्युसे डर रहे हो? डरे हुएको क्या मृत्यु छोड़ देती है? ऐसा समझ रहे हो तो यह तुम्हारी मूर्खता है। मृत्यु तो सबको कालका ग्रास बना देती है। वह तो जो जन्म ही नहीं लेता, उसीको नहीं पकड़ती है। इसलिये ऐसा प्रयत्न करो, जिससे पुनः जन्म ही न लेना पड़े।

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा।

स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्॥

वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः।

शममध्ययनं चैव सुखमेवं समश्नुते॥

जैसे नगरका स्वामी नगरकी रक्षामें और सारथी रथकी रक्षामें तत्पर रहता है, वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह शरीरकी रक्षाके कार्योंमें तत्पर रहे। अपनी जीविकाको चलानेके लिये उन्हीं कर्मोंको करे, जो धर्मके विरुद्ध न हों। जो मनुष्य शान्त रहते हुए सद्ग्रन्थोंका अध्ययन और उनमें बताये गये सत्कर्मोंको करता है, वह सुख प्राप्त करता है।

इमांस्तु धारयेद्देवान् हितार्थी प्रेत्य चेह च।

साहसानामशास्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम्॥

लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्।

नैर्लज्ज्येष्वर्थातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान्॥

परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च।

वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्देगमुत्थितम्॥

देहप्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया।

स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत्॥

पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम्।

धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च ॥

इस लोक और परलोकमें हित चाहनेवाले लोगोंको अप्रशस्त अर्थात् निन्दित तथा जल्दबाजीके कार्यको मन, वचन तथा कर्मसे भी नहीं करना चाहिये। प्रत्येक कार्य धर्मानुकूल तथा सोच-विचारकर करना चाहिये। लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहङ्कार, निर्लज्जता, ईर्ष्या, वासनामय प्रेम, दूसरेके धनको हड़पनेकी इच्छा आदि मानसिक वेगोंको रोकना चाहिये। अत्यन्त कठोर वचन, चुगली, झूठ और असमयपर बोलना—इन वचनके वेगोंको रोकना चाहिये। किसीको पीडा पहुँचानेवाले कर्म, परस्त्रीमें रति, चोरी तथा हिंसा—इन शारीरिक वेगोंको रोकना चाहिये।

इस प्रकार (शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक—) इन तीनों वेगोंके रोकनेसे मनुष्य मन, वचन और कर्मसे होनेवाले पापोंसे बचता है, पुण्य प्राप्त करता है और धर्म, अर्थ तथा कामके फलोंका सुखसे उपभोग करता है।

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।

देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ॥

आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निर्दिशितः।

प्राज्ञः प्रागेव तत् कुर्याद्भितं विद्याद्यदात्मनः ॥

प्रज्ञापराध (जानबूझकर की जानेवाली गलतियों)—को त्यागना, इन्द्रियोंका संयम रखना, ठीक-ठीक ध्यान रखना, देश, काल और अपने-आपको समझना तथा सदाचारसे चलना आदि—ये सब आगन्तुक रोगोंसे बचनेके मार्ग हैं। बुद्धिमान् मनुष्यको रोगोत्पत्तिके पूर्व ही ऐसे कार्य करने चाहिये, जिनसे कि रोगोंकी उत्पत्ति ही न हो और अपना स्वास्थ्य बना रहे।

बुद्धिविद्यावयःशीलधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ।

वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावज्ञा गतव्यथाः ॥

सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः संशितव्रताः।

सेव्याः सन्मार्गवक्तारः पुण्यश्रवणदर्शनाः ॥

जो पुरुष बुद्धि, विद्या, अवस्था, शील, धैर्य, स्मरणशक्ति और ठीक-ठीक ध्यान रखनेवाले, वृद्धोंकी सेवामें तत्पर रहनेवाले, लोगोंके स्वभावको शीघ्र समझने-

वाले, मानसिक और शारीरिक कष्टोंसे मुक्त रहने-वाले, सुन्दर, सब जीवोंपर दयादृष्टि रखनेवाले, सत्परामर्श देनेवाले हों तथा जिनकी गाथा सुननेसे और जिनका दर्शन करनेसे पुण्य होता हो, ऐसे महापुरुषोंका साथ करना चाहिये।

उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः।

त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः ॥

कोषकारो यथा हांशूनुपादत्ते वधप्रदान्।

उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः ॥

उपधा (तृष्णा) ही समस्त रोगों या दुःखोंका कारण है। अतः सब प्रकारकी उपधाओं (तृष्णाओं)—का त्याग करना ही सम्पूर्ण दुःखोंका नाश करना है। जिस प्रकारसे रेशमका कीड़ा अपनी मृत्युके कारणस्वरूप रेशमके जालका स्वयं निर्माण करता है और अन्तमें दुःखको प्राप्त करता है, उसी तरह मूर्ख लोग स्वयं तृष्णा करते हैं और दुःख भोगते हैं।

नरो हिताहारविहारसेवी

समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।

दाता समः सत्यपरः क्षमावा-

नासोपसेवी च भवत्यरोगः ॥

मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं

सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।

ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे

यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः ॥

हितकारी आहार और विहारका सेवन करनेवाला, विचारपूर्वक काम करनेवाला, काम-क्रोधादि विषयोंमें आसक्त न रहनेवाला, सभी प्राणियोंपर समदृष्टि रखनेवाला, सत्य बोलनेमें तत्पर रहनेवाला, सहनशील और आप्तपुरुषोंकी सेवा करनेवाला मनुष्य अरोग (रोगरहित) रहता है। सुख देनेवाली मति, सुखकारक वचन और सुखकारक कर्म, अपने अधीन मन तथा शुद्ध पापरहित बुद्धि जिसके पास है और जो ज्ञान प्राप्त करने, तपस्या करने और योग सिद्ध करनेमें तत्पर रहता है, उसे शारीरिक और मानसिक कोई भी रोग नहीं होते (वह सदा स्वस्थ और दीर्घायु बना रहता है)।



स्वस्थ रहनेकी रामबाण दवा

चौरासी लाख योनियोंसे भटकता हुआ प्राणी भगवत्कृपासे मनुष्ययोनि प्राप्त करता है। मानव-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है—अपना कल्याण करना अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना। मनुष्य-योनिके अतिरिक्त सभी योनियोंमें जीव अपने कर्मानुसार केवल भोग भोगता है। मात्र मनुष्यको ही विवेक और कर्म करनेकी सामर्थ्य ईश्वरकृपासे प्राप्त है। पर यह सामर्थ्य भी पूरी तरह सफल तभी होता है, जब शरीर और मन—दोनों पूर्ण स्वस्थ होते हैं। इसके लिये व्यक्तिको सावधान रहनेकी आवश्यकता है। शरीरकी प्रकृति तो स्वस्थ रहनेकी ही है, हम अपनी असावधानीके कारण अस्वस्थ हो जाते हैं। कभी-कभी प्रारब्धवशात् अपने पूर्वकृत पापोंके कारण भी व्यक्ति आकस्मिक रूपमें किसी-न-किसी रोगसे ग्रस्त हो जाता है।

अपने शास्त्रोंमें ऋषि-महर्षियोंद्वारा सदाचार और शौचाचारके अन्तर्गत मानवमात्रके लिये जीवनचर्या और दिनचर्या प्रस्तुत की गयी है, जिसका पालन कर्तव्यबुद्धिसे करनेपर लोक-परलोक दोनों सुधर सकते हैं अर्थात् लोकमें तो व्यक्ति स्वस्थ रहकर सुखी हो सकता है और परलोकमें पुण्यकी प्राप्ति कर अपने कल्याणपथका पथिक बन सकता है। वास्तवमें अपने शास्त्रोंमें कर्तव्याकर्तव्यके जो विधान हैं, वे भगवदाज्ञा होनेके कारण विश्वासपूर्वक आस्थाके साथ पालन करनेपर लोकमें स्वास्थ्य आदिके लिये परम उपयोगी होते हुए मनुष्यको भगवत्प्राप्तिकी सामर्थ्य प्रदान करते हैं।

‘आचारः परमो धर्मः’—आचार-विचार परम धर्म है। सदाचारमें लगे मनुष्यका शरीर स्वस्थ, मन शान्त और बुद्धि निर्मल होती है एवं उसका अन्तःकरण शीघ्र ही शुद्ध

हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरण ही वस्तुतः भगवान्के चिन्तन और ध्यानके योग्य होता है, उसीमें भगवान्का स्थिर आसन लगता है। इसलिये मनुष्यको शास्त्रोक्त आचार जानना चाहिये और उसका पालन करना चाहिये। मनु महाराज कहते हैं—

‘श्रुति और स्मृतिमें कथित अपने नित्यकर्मोंके अङ्गभूत धर्मका मूल—सदाचारका सावधानीपूर्वक सेवन करना चाहिये। आचार-धर्मका पालन करनेसे मनुष्य आयु, इच्छानुरूप संतति और अक्षय धनको प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, सदाचारसे अल्पमृत्यु आदिका भी नाश होता है। जो पुरुष दुराचारी है, उसकी लोकमें निन्दा होती है, वह सदा दुःख भोगता रहता है तथा रोगी और अल्पायु (कम उम्रवाला) होता है। विद्या आदि सब गुणोंसे हीन पुरुष भी यदि सदाचारी और श्रद्धावान् तथा ईर्ष्यारहित होता है तो वह भी सौ वर्षोंतक जीता है।^१’

यहाँ श्रुति-स्मृति, पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थों और वैद्यक-सिद्धान्तोंके आधारपर तथा वर्तमान आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर शास्त्रोक्त जीवनचर्या तथा दिनचर्या प्रस्तुत है। जिसका पालन करनेपर स्वास्थ्य आदि भौतिक लाभके साथ-साथ आध्यात्मिक और पारमार्थिक लाभकी प्राप्ति भी हो सकेगी।

प्रातः-जागरण—पूर्ण स्वस्थ रहनेके लिये कल्याणकामी व्यक्तिको प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयसे (तीन घंटेसे डेढ़ घंटेतक) पूर्व शय्यात्याग करना चाहिये। ब्राह्ममुहूर्तकी बड़ी महिमा है। इस समय उठनेवालेका स्वास्थ्य, धन, विद्या, बल और तेज बढ़ता है। जो सूर्य उगनेके समय सोता है, उसकी उम्र और शक्ति

१. श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु । धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः । आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः । दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्तरः । श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥

घटती है तथा वह नाना प्रकारकी बीमारियोंका शिकार होता है।

प्रातःकाल उठते ही शयनशय्यापर सर्वप्रथम करतल (दोनों हाथकी हथेलियों)-के दर्शनका विधान है। करतलका दर्शन करते हुए निम्नलिखित श्लोक पढ़ना चाहिये—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।

करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्॥

इस श्लोकमें धनकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी तथा विद्याकी अधिष्ठात्री सरस्वती और कर्मक्षेत्रके अधिष्ठाता ब्रह्माकी स्तुति की गयी है। इस मन्त्रका आशय है कि 'मेरे कर (हाथ)-के अग्रभागमें भगवती लक्ष्मीका निवास है, कर (हाथ)-के मध्यभागमें सरस्वती तथा कर (हाथ)-के मूलभागमें ब्रह्मा निवास करते हैं।' प्रभातकालमें मैं अपनी हथेलियोंमें इनका दर्शन करता हूँ। इससे धन तथा विद्याकी प्राप्तिके साथ-साथ कर्तव्यकर्म करनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है। भगवान् वेदव्यासने करोपलब्धिको मानवका परम लाभ माना है। इस विधानका आशय यह भी है कि प्रातःकाल उठते ही सर्वप्रथम दृष्टि और कहीं न जाकर अपने करतलमें ही देव-दर्शन करे, जिससे वृत्तियाँ भगवच्चिन्तनकी ओर प्रवृत्त हों। यथासाध्य उस समय भगवान्का स्मरण और ध्यान भी करना चाहिये तथा भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि दिनभर मेरेमें सुबुद्धि बनी रहे। शरीर तथा मनसे शुद्ध सात्त्विक कार्य हों, भगवान्का चिन्तन कभी न छूटे। इसके लिये भगवान्से बल माँगे और आत्माद्वारा यह निश्चय करे कि आज दिनभर मैं कोई भी बुरा कार्य नहीं करूँगा। भगवान्को याद रखते हुए भले कार्योंको ही करूँगा।

शय्यासे भूमिपर पाँव रखनेके पूर्व निम्नलिखित श्लोकके द्वारा पृथ्वीमाताकी प्रार्थना करनी चाहिये—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डिते।

विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे॥

इस श्लोकमें धरा (धरती माता)-को भगवान् विष्णुकी पत्नीके रूपमें सम्बोधित किया गया है तथा पादस्पर्शके लिये उनसे क्षमाप्रार्थना की गयी है।

उषःपान—प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व मल-मूत्रके त्याग करनेसे पहले जल पीनेकी भी विधि है। रात्रिमें ताम्रपात्रमें ढककर रखा हुआ जल, प्रातःकाल कम-से-कम आधा लीटर तथा सम्भव हो तो सवा लीटरतक पीना चाहिये, इसे 'उषःपान' कहा जाता है। इससे कफ, वायु एवं पित्त—त्रिदोषका नाश होता है तथा व्यक्ति बलशाली एवं दीर्घायु हो जाता है। दस्त साफ होता है, पेटके विकार दूर होते हैं। बवासीर, प्रमेह, मस्तकवेदना, शोथ और पागलपन आदि रोग मिट जाते हैं, बल, बुद्धि और ओज बढ़ता है।

मल-मूत्र-त्याग—इसके बाद मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। मल-मूत्रका त्याग करते समय सिरको कपड़ेसे ढक लेना चाहिये तथा ऊपर-नीचेके दाँतोंको जोरसे सटाकर रखना चाहिये। इससे दाँत बहुत मजबूत होते हैं और बहुत दिनोंतक चलते हैं। दाँतोंकी कोई बीमारी नहीं होने पाती। मल-मूत्रका त्याग करते समय मौन रहना चाहिये। चोटी (शिखा) खुली रखनी चाहिये एवं ज्यादा जोर नहीं लगाना चाहिये। यदि कब्ज अधिक हो तो कब्ज दूर करनेके उपचार, आहार आदिके द्वारा अथवा सामान्य ओषधिके द्वारा कर लेना चाहिये। सामान्यतः पेशाब करके पानीसे मूत्रेन्द्रियको जरूर धोना चाहिये। मल-त्यागके बाद मिट्टीसे गुदा-लिङ्ग आदि जरूर धो ले, इससे बवासीरकी बीमारी नहीं होती। लिङ्गको एक बार, गुदाको कम-से-कम तीन बार मिट्टी लगाकर धो लेना चाहिये। बायें हाथको दस बार और दोनों हाथोंको मिलाकर सात बार मिट्टी लगाकर अच्छी तरह धोये तथा पैर भी धोने चाहिये। शौचके बाद बारह कुल्ले तथा लघुशंकाके बाद चार कुल्ले करनेका विधान है। यह क्रिया शौचाचारके अन्तर्गत आती है।

मनुष्यको किन वेगोंको रोकना चाहिये तथा किन वेगोंको नहीं रोकना चाहिये—इस सम्बन्धमें आयुर्वेदमें कहा गया है कि लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहंकार, निर्लज्जता, अतिराग, दूसरेका धन लेनेकी इच्छा आदि मानसवेगोंको रोकना चाहिये, किंतु मल-मूत्रादिके वेगको

रोकना स्वास्थ्यके लिये हानिकर है।^१

दन्तधावन—शौचनिवृत्तिके पश्चात् व्यक्तिको दातौन तथा मंजनसे दाँतोंको साफ करना चाहिये। आजकल दाँतोंको साफ करनेके लिये ब्रशका प्रयोग लोग अधिक करते हैं। परंतु नीम तथा बबूल आदिकी दातौन दाँतोंकी सुरक्षाके लिये अधिक लाभप्रद है। रविवार, एकादशी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, व्रत और श्राद्धादि दिनोंमें दातौन करनेका निषेध है। अतः इन दिनोंमें केवल शुद्ध मंजनसे ही दाँत साफ करना श्रेयस्कर है। दाँत साफ करनेके बाद जीभीसे जीभ भी साफ करनी चाहिये।

व्यायाम तथा वायुसेवन—शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये, कार्य करनेकी सामर्थ्य बनाये रखनेके लिये, पाचनक्रिया तथा जठराग्निको ठीक रखनेके लिये शरीरको सुगठित, सुदृढ़ और सुदौल बनानेकी दृष्टिसे, अपने आयु, बल, देश और कालके अनुरूप नियमितरूपसे योगासन अथवा व्यायाम अवश्य करना चाहिये। ऐसा करनेसे व्यक्ति सामान्यतः बीमार नहीं होते और उन्हें औषधिसेवनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती।^२

सुबह और शामको नित्य खुली, ताजी और शुद्ध हवामें अपनी शक्तिके अनुसार थकान न मालूम होनेतक साधारण चालसे घूमना चाहिये। नियमपूर्वक कम-से-कम दो-तीन किलोमीटरतक घूमना चाहिये। प्रौढ़ावस्थामें टहलना भी एक प्रकारका व्यायाम है। नियमपूर्वक घूमनेके व्यायामसे और शुद्ध वायुसेवनसे शरीरको बहुत लाभ

पहुँचता है।

अभ्यङ्ग (तेल-मालिश)—जरा, श्रम तथा वातके विनाशार्थ और शरीरकी दृढ़ता, पुष्टि, दृष्टिवृद्धिके लिये नित्य तेलकी मालिश करनी चाहिये। सिर, कान तथा पाँवके तलवोंमें तेलकी मालिशका विशेष लाभ है।^३ कानमें तेल डालनेसे कानके रोग, ऊँचा सुनना, बहरापन आदि विकार नहीं होते। सिरकी मालिशसे कानोंको और कानोंकी मालिशसे पाँवोंको लाभ पहुँचता है तथा पाँवोंकी मालिशसे नेत्ररोगोंका तथा नेत्रोंके अभ्यङ्गसे दन्तरोगोंका शमन होता है।^४

रोज सारे बदनमें तेल लगानेपर बड़ा लाभ होता है। गलेके नीचेतक सरसोंका तथा मस्तकपर तिल आदिका तेल लगावे। सिरका ठंडा रहना और पैरका गरम रहना अच्छा है। एकादशी, पूर्णिमा, अमावास्या, सूर्यकी संक्रान्ति, व्रत तथा श्राद्धादिके दिन तेल न लगावे।

क्षौर-क्रिया—एकादशी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, सूर्यसंक्रान्ति, शनिवार, मंगलवार, बृहस्पतिवार, व्रत तथा श्राद्धादि दिनोंको छोड़कर किसी भी दिन क्षौर, दाढ़ी, नखच्छेदन आदि कराया जा सकता है। सामान्यतः सोमवार, बुधवार और शुक्रवार क्षौरकर्मके लिये विशेषरूपसे प्रशस्त हैं। परंतु एक संतानवाले व्यक्तिको सोमवारको क्षौर नहीं कराना चाहिये।

स्नान—व्यक्तिको प्रतिदिन मन्त्रपूत स्वच्छ जलसे स्नान करना चाहिये। तभी वह मन्त्रजप, संध्यावन्दन, स्तोत्र आदि पाठ तथा भगवद्दर्शन, चरणामृत ग्रहण करनेका

१. लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत् । नैर्लज्ज्येष्वतिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥
न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान् मूत्रपुरीषयोः । न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः । न वाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥

(चरक० सू० ७।२७, ३-४)

२. (क) लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः । विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ॥ (अ०ह०सू० २।१०)

(ख) वयोबलशरीराणि देशकालाशनानि च ॥ समीक्ष्य कुर्याद् व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात् । (सु०चि० २४।४८- ४९)

३. अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा । दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्यकृत् ॥

शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ।

(अ०ह०सू० २।८-९)

४. न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसंग्रहः । नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात् ॥ (च०सू० ५।८४)

मूर्ध्नोऽभ्यंगात् कर्णयोः शीतमायुः कर्णाभ्यंगात् पादयोरेवमेव ।

पादाभ्यंगान्नेत्ररोगान् हरेच्च नेत्राभ्यंगाद् दन्तरोगाश्च नश्येत् ॥

अधिकारी बनता है।^१ गङ्गा आदि पवित्र नदियोंमें, बहते हुए नद अथवा निर्मल तालाबमें स्नान करना उत्तम पक्ष है।

शरीरको अँगोछे और हाथसे मल-मलकर खूब नहाना चाहिये। नहाते समय ऐसा निश्चय करे कि मेरे शरीरके मैलके साथ ही मनका मैल भी धुल रहा है और इस समय भगवान्का नामोच्चारण अवश्य करते रहना चाहिये। स्नान करते समय पहले मस्तकपर जल डालना चाहिये। ज्वर, अतिसार आदि रोगोंमें, पसीनेमें, दौड़कर आनेपर तथा भोजनके तुरंत बाद नहीं नहाना चाहिये। प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व स्नान करनेसे पाप नष्ट हो जाते हैं। स्नानसे जठराग्नि बढ़ती है। आयु, बल और पुष्टिकी वृद्धि होती है। खुजली, मल, पसीना तथा प्यास, दाह, दुःस्वप्न आदि नष्ट हो जाते हैं। रूप, कान्ति, तेज आदिकी वृद्धि होती है।^२

स्नान करके अङ्ग पोंछनेके बाद धोया हुआ शुद्ध सफेद कपड़ा पहने। पूजाके समय ऊनी तथा जिसमें हिंसा न होती हो, ऐसा वस्त्र पहनना उत्तम है। दूसरेका पहना हुआ कपड़ा नहीं पहनना चाहिये। लुंगी (बिना लाँगका वस्त्र) नहीं पहनना चाहिये। 'मुक्तकक्षो महाधमः', बल्कि धोती धारणकर संध्या-पूजन आदि कर्म करने चाहिये।

नहानेके बाद सिरके केशोंको कंघीसे ठीक कर ले, जिसमें कोई जीव-जन्तु या कूड़ेका कण सिरपर न रहने पाये। सिरपर कंघी करनेसे बुद्धिका विकास होता है।

नित्य अभिवादन—घरमें माता-पिता, गुरु, बड़े भाई आदि जो भी अपनेसे बड़े हों, उनको नित्य नियमपूर्वक प्रणाम करे। नित्य बड़ोंको प्रणाम करनेसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनुस्मृति २। १२१)

शिखा (चोटी) और सूत्र (जनेऊ)-के बिना जो देव-कार्य किये जाते हैं, वे सदा निष्फल होते हैं—
'विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्'।

तिलकधारण—संध्या-वन्दन तथा पूजन आदिके पूर्व मस्तकपर भस्म, चन्दन या कुंकुमसे अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार त्रिपुण्ड्र अथवा ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि तिलक करना चाहिये। तिलक धारण करनेकी बड़ी महिमा है। तिलकके न करनेपर स्नान, दान, तप, होम, स्वाध्याय और पितृतर्पण—ये सभी कर्म निष्फल होते हैं—'भस्मी भवति तत्सर्वम्'।

संध्या, तर्पण एवं इष्टदेवका पूजन—द्विजको यथासाध्य त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न तथा सायं)-संध्या करनी चाहिये। कम-से-कम दो कालकी संध्या तो अवश्य करनी ही चाहिये। जो द्विज प्रतिदिन प्रमादवश संध्या नहीं करता, वह महान् पापी माना जाता है और उसे भयानक नरकयातना भोगनी पड़ती है। संध्याके बाद कम-से-कम एक माला 'गायत्रीमन्त्र'का जप करना चाहिये। देवता, ऋषि और पितरोंकी तृप्तिके लिये प्रतिदिन तर्पण करे। नित्य अपने इष्टदेवकी (मानस एवं बाह्य) पूजा तथा स्तोत्रपाठ आदि करने चाहिये। जिनको संध्या, गायत्री करनेका अधिकार नहीं है, ऐसे लोग नित्य नियमपूर्वक अपने-अपने इष्टदेवकी पूजा-प्रार्थना अवश्य करें। पूजाकी पूर्णता चित्तकी एकाग्रतापर निर्भर होती है। अतः मनको सब तरफसे हटाकर एकाग्रचित्त हो प्रभुमें लगाना चाहिये।

पञ्चमहायज्ञ^३—शास्त्रोंमें प्रत्येक व्यक्तिके लिये प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करनेका विधान है। इसके अन्तर्गत स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञ), तर्पण (पितृयज्ञ), हवन (देवयज्ञ), पञ्चबलि (भौमयज्ञ) तथा अतिथिपूजन (नृयज्ञ)—ये पञ्चयज्ञ आते हैं। बलिवैश्वदेव तथा पञ्चबलिमें ही ये समाहित हैं। अतः इसे प्रतिदिन करना चाहिये।^४

१. स्नानं प्रतिदिनं कुर्यान्मन्त्रपूतेनवारिणा । प्रातःस्नानेन योग्यः स्यान्मन्त्रस्तोत्रजपादिषु ॥

२. प्रातःस्नानमलं च पापहरणं दुःस्वप्नविध्वंसनं
शौचस्यायतनं मलापहरणं संवर्धनं तेजसाम् ।
रूपद्योतकरं शरीरसुखदं कामाग्निस्न्दीपनं
स्त्रीणां मन्मथगाहनं श्रमहरं स्नानं दशैते गुणाः ॥

३. संध्या-वन्दन-तर्पण एवं बलिवैश्वदेव आदिकी सम्पूर्ण विधि गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित 'नित्यकर्म-पूजाप्रकाश' में देखी जा सकती है।

४. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
यज्ञश्रेष्ठं वैश्वदेवं प्रत्यहं तु समाचरेत् ॥

चरणामृत-ग्रहण—पूजन आदिसे निवृत्त होकर तुलसीदलसे युक्त प्रभुका चरणामृत ग्रहण करना चाहिये। तुलसीदल-चरणामृतकी बड़ी महिमा है। भगवान्का चरणामृत भक्तोंके सभी प्रकारके आर्तों (दुःख और रोग)-का नाश करता है और सम्पूर्ण पापोंका शमन करता है।^१ निम्न श्लोक पढ़ते हुए चरणोदक पान करनेका विधान है—

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।

विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

पूजन, भोजन तथा आचमन आदि कृत्योंमें तुलसीदलका विशेष महत्त्व माना गया है।

भोजन—भोजन तैयार हो जानेपर सर्वप्रथम बलिवैश्वदेव तथा भगवान्का भोग लगाना चाहिये। भगवान्के भोगमें तुलसीदल छोड़नेका विधान है। तुलसीदलका विशेष महत्त्व बताया गया है। इसका वैज्ञानिक रहस्य यह है कि भोजनमें तुलसीदल डालनेसे न्यूनातिन्यून परिमाणमें विद्यमान अन्नकी विषाक्तता तुलसीके प्रभावसे शमित हो जाती है—‘तुलसीदलसम्पर्कादनं भवति निर्विषम्’। अतः जब भी भोजन करे तो पहले भगवान्को निवेदन करके प्रसादरूपसे ही ग्रहण करे। पैरोंको धोकर, भलीभाँति कुल्ला करके, हाथ-मुँह धोकर भोजन करना चाहिये। भोजन करनेसे पूर्व घरपर आये अतिथिका सत्कार करे। फिर अपने घरमें आयी विवाहिता कन्या, गर्भिणी स्त्री, दुःखिया, वृद्ध और बालकोंको भोजन कराकर अन्तमें स्वयं भोजन करना चाहिये। इन सबको भोजन कराये बिना जो स्वयं भोजन करता है, वह पापमय भोजन करता है।

जिस प्रकार संध्यावन्दन तथा अग्निहोत्रादि प्रातः-सायं दो बार करनेकी विधि है, उसी प्रकार भोजन भी गृहस्थको प्रातः-सायं दो बार ही करना चाहिये। भोजनसे पूर्व भोजनपात्रका परिषेचन (चारों ओर जलका मण्डल) करना चाहिये, जिससे कीट आदि भोजनकी थालीसे दूर रहें।^२ भोजन प्रारम्भ करनेके पूर्व लवणरहित तीन ग्रास ‘ॐ भूपतये स्वाहा, ॐ भुवनपतये स्वाहा, ॐ भूतानां पतये स्वाहा’—इन

तीन मन्त्रोंसे थालीसे बाहर दायीं ओर निकालकर रखना चाहिये तथा इन्हीं मन्त्रोंसे जल भी छोड़ना चाहिये। इन तीन ग्रासोंमें पृथ्वी, भुवनमण्डल तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको तृप्त करनेकी भावना है। तदनन्तर भोजन प्रारम्भ करनेके पूर्व लवणरहित पाँच छोटे-छोटे ग्रासोंको— ‘ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा’—इन पाँच मन्त्रोंसे मुँहमें लेना चाहिये। इन पाँच ग्रासोंके द्वारा आत्मस्वरूप ब्रह्मके प्रीत्यर्थ जटराग्रिमें आहुति प्रदान करनेका भाव है। भोजनके पूर्व ‘ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा’ इस मन्त्रसे आचमन करे। इसका तात्पर्य है कि मैं अपने भोजनको अमृतरूपी बिछावन (आधार) प्रदान करता हूँ। इसके बाद मौन होकर प्रसन्नमनसे खूब चबा-चबाकर भोजन करे। आयुर्वेदके अनुसार एक ग्रासको लगभग बत्तीस बार चबाना चाहिये। जो अन्नको चबाकर नहीं खाता, उसके दाँत कमजोर हो जाते हैं तथा दाँतोंके बदले उसकी अँतड़ियोंको काम करना पड़ता है, जिससे अग्नि मंद हो जाती है। कहा गया है कि अन्नके दो भाग, जल और वायुके एक-एक भागद्वारा उदरकी पूर्ति करनी चाहिये। भोजन करते समय जल न पीना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है। आवश्यकतानुसार जल पीना हो तो भोजनके मध्यमें थोड़ा-थोड़ा पीना चाहिये। भोजनके अन्तमें जल पीना उचित नहीं है। भोजनके कम-से-कम एक घंटे बाद इच्छानुसार जल पीना चाहिये। भोजनके अन्तमें ‘ॐ अमृतापिधानमसि स्वाहा’ मन्त्र बोलकर आचमन करे। इसका तात्पर्य है कि मैं अपने भोजनप्रसादको अमृतसे आच्छादित करता हूँ।

अप्रसन्न मनसे, बिना रुचिके, भूखसे अधिक और अधिक मसालोंवाला चटपटा भोजन शरीरके लिये हानिकारक होता है। भोजन न तो इतना कम होना चाहिये, जिससे शरीरकी शक्ति घट जाय और न इतना अधिक होना चाहिये कि जिसे पेट पचा ही न सके।

बहुत प्यास लगी हो, पेटमें दर्द हो, शौचकी हाजत

१. कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामार्तिनाशनम् । सर्वपापप्रशमनं

२. सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिचोदितम् । नान्तराभोजनं

भोजनादौ सदा विप्रैर्विधेयं परिषेचनम् । तेन कीटादयः

पादोदकं प्रयच्छ मे॥

कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥

सर्वे दूरं यान्ति न संशयः॥

हो अथवा बीमार हो—ऐसे समय भोजन न करे, अपवित्र स्थानमें, संध्याकालमें, गंदी जगह, फूटी थाली आदिमें भोजन न करे। भोजन बनाने और परोसनेवाला मनुष्य दुराचारी, व्यभिचारी, चुगलखोर, छूतका रोगी, कोढ़ और खाज-खुजलीका रोगी, क्रोधी, वैरी और शोकसे ग्रस्त नहीं होना चाहिये। जिस आसनपर भोजन करने बैठे, उसे पहले झाड़ लेना चाहिये और सुखासनसे बैठकर भोजन करना चाहिये। भोजन करते समय गुस्सा न हो, कटु वचन न कहे। भोजनमें दोष न बतलावे, रोवे नहीं। शोक न करे, जोरसे न बोले। किसी दूसरेको न छुवे, वाणीका संयम करके अनिषिद्ध अन्नका भोजन करे। अन्नकी निन्दा न करे। बहुत गरम तथा बहुत ठंडी चीज दाँतोंसे चबाकर न खाये। अधिक तीखा, अधिक कड़वा, अधिक नमकीन, अधिक गरम, अधिक रूखा, अधिक तेज भोजन राजसी है और अधकच्चा, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जूठा अन्न तामसी है। राजसी, तामसी अन्नका, मांस-मद्यका तथा शास्त्रनिषिद्ध अन्नका त्याग करना चाहिये। भोजनके आदिमें अदरकको कतरकर उसके साथ थोड़ा नमक मिलाकर खाना अच्छा है। जीभके स्वादवश अधिक खा लेना उचित नहीं है।

एक थालीमें दो आदमी न खायँ। इसी प्रकार एक कटोरे या गिलासमें दूध या पानी न पियें। सोये हुए न खायें। दूसरेके हाथसे न खायँ। दूसरेके आसन अथवा गोदमें लेकर अन्न न खायें।

ताँबेके बरतनमें दूध न रखें। जिस दूधमें नमक गिर गया हो उसे कभी न पियें। पीतलके बरतनमें खट्टी चीज रखकर न खायँ। एकादशी, पूर्णिमा, अमावास्या आदि दिनोंको व्रत रखना चाहिये। व्रतके दिन निराहार रहे या परिमित आहार करे, केवल जल पीना अच्छा है।

रजस्वला स्त्रीका स्पर्श किया हुआ, पक्षीका खाया हुआ, कुत्तेका छुआ हुआ, गायका सूँघा हुआ, कीड़ा, लार, थूक आदि पड़ा हुआ, अपमानसे मिला हुआ तथा वेश्या, कलाल, कृतघ्नी, कसाई और राजाका अन्न नहीं खाना चाहिये।

भोजनमें चौकेकी व्यवस्था—धूल और दुर्गन्धरहित,

प्रकाशयुक्त, शुद्ध हवादार स्थानमें भोजन बनाना चाहिये। चारों ओरसे घिरी हुई जगहमें बैठकर भोजन करना चाहिये। प्राचीन कालसे ही अपने यहाँ चौकेकी व्यवस्थापर बहुत ध्यान दिया जाता रहा है। चौकेके भीतर जो वैज्ञानिकता है, उसे आजकल लोग भूलते जा रहे हैं। चौका चार प्रकारकी शुद्धियोंका समुच्चय है और भोजनमें इन चारों प्रकारकी शुद्धियोंकी आवश्यकता है। इससे किया गया भोजन हमारे शरीरको स्वस्थ तथा मनको पवित्र बनाता है। ये चार शुद्धियाँ हैं—(१) क्षेत्रशुद्धि, (२) द्रव्यशुद्धि, (३) कालशुद्धि और (४) भावशुद्धि।

(१) क्षेत्रशुद्धि—भोजन करते समय हमें क्षेत्र या स्थानकी शुद्धिपर विशेष ध्यान रखनेकी आवश्यकता है; क्योंकि प्रत्येक स्थानका वायुमण्डल, वातावरण, पर्यावरण हमारे मन तथा तनको जब प्रभावित करता है तो हमारे भोजनको भी प्रभावित करेगा ही। यदि किसी व्यक्तिको मरघट या श्मशानभूमि अर्थात् किसी अपवित्र स्थानमें भोजन कराया जाय और उसी व्यक्तिको उपवन आदि किसी पवित्र स्थानपर भोजन कराया जाय तो इन दोनों स्थानोंके भोजन, पाचनमें पर्याप्त अन्तरका अनुभव होगा। इसी प्रकार बाजारोंमें, गलियों आदिके आस-पास, कूड़ा-कचरा और उनपर भिनभिनाती मक्खियाँ, मच्छर तथा खाद्यपदार्थोंपर जहाँ धूल जमी हो, ऐसे दूषित स्थानोंपर जब व्यक्ति चाट, पकौड़ी, मिष्ठान्न आदि खाता-पीता है तो कदाचित् वह भूल जाता है कि ऐसे स्थानोंका पर्यावरण पर्याप्त दूषित है। ऐसे वातावरणमें बैकटीरिया, कीटाणु, भोजनके साथ शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं, जो शरीरमें रुग्णता पैदा करते हैं। चौकेकी व्यवस्थाके अन्तर्गत यह क्षेत्रशुद्धि स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त वैज्ञानिक और लाभदायक है। प्राचीन परम्पराके अनुसार चौकेमें अनधिकृत व्यक्तिका प्रवेश निषिद्ध रहता था। केवल अधिकृत व्यक्ति ही भोजन छूनेके अधिकारी होते थे।

(२) द्रव्यशुद्धि—द्रव्य भी हमारे भोजनपर बड़ा असर डालता है। अनीति, अनाचार और बेईमानी आदि अधर्मके साधनोंके धनसे बनाया गया भोजन हमारे तन तथा मनको प्रभावित करता है। ऐसा भोजन हमारे परिणामोंको

सात्त्विक कभी भी नहीं बना सकता।

(३) कालशुद्धि—काल या समयका भी भोजनपर प्रभाव पड़ता है। जो लोग समयपर भोजन नहीं करते, वे अक्सर उदरसम्बन्धी व्याधियोंसे सदा पीडित रहते हैं। भूख लगनेपर भोजन करना भोजनका सर्वोत्तम समय है तथा नियमित समयसे भोजन करना स्वास्थ्यके लिये उत्तम है। गृहस्थके लिये सूर्य रहते दिनमें भोजन करना चाहिये तथा दूसरे समयका भोजन सूर्यास्तके बाद करनेकी विधि है। मानवको हितकर भोजन उचित मात्रामें उचित समयपर करना चाहिये—‘हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः’। (चरक)

(४) भावशुद्धि—भोजनपर भावनाओंका भी गहरा प्रभाव पड़ता है, इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको नीरोग रहनेके लिये भोजन शुद्धभावसे करना चाहिये। क्रोध, ईर्ष्या, उत्तेजना, चिन्ता, मानसिक तनाव, भय आदिकी स्थितिमें किया गया भोजन शरीरके अंदर दूषित रसायन पैदा करता है। जिसके फलस्वरूप शरीर विभिन्न रोगोंसे घिर जाता है। शुद्ध चित्तसे प्रसन्नतापूर्वक किया गया आहार शरीरको पुष्ट करता है, कुत्सित विचारों एवं भावोंके साथ किये गये भोजनसे व्यक्ति कभी भी स्वस्थ नहीं रह सकता। इसके साथ ही भोजन बनानेवाले व्यक्तिके भी भाव शुद्ध होने चाहिये। उसे भी ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदिसे ग्रस्त नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार इन चारों शुद्धियोंके साथ यदि भोजन करेंगे तो निश्चितरूपसे हमारा मन भी निर्मल रहेगा और शरीर भी नीरोगी रहेगा।

भोजनसामग्रीकी शुद्धता—भोजनसामग्रीकी शुद्धता और पवित्रतापर विशेष ध्यान रखनेकी आवश्यकता है। भोजनके कच्चे सामान आटा, दाल, घी, मसाला आदि स्वच्छ और साफ बरतनोंमें ढककर रखे जायँ। बिना ढके बरतनोंमें चूहे घुस जाते हैं और वे वहाँ मल-मूत्रका त्याग कर देते हैं। चूहोंके मल-मूत्रमें भयानक विष होता है। खुले बरतनोंमें दूसरे जानवर भी घुसकर सामानको गंदा कर देते हैं। चौकेमें भोजन बनाकर जिन बरतनोंमें रखा हो, उन्हें ढककर रखना चाहिये। दूध, दही, मिठाई आदि पदार्थ ऐसे

स्थानोंपर रखने चाहिये, जिनसे उनपर मक्खी-मच्छर न बैठ पायें। पंगतमें भोजन करने बैठे तो सबके साथ उठना चाहिये।

भोजनके बादके कृत्य—भोजन करनेके अनन्तर दाँतोंको खूब अच्छी तरह साफ करना चाहिये, ताकि उनमें अन्नका एक भी कण न रह जाय। अन्नकण दाँतोंमें रह जानेपर दाँत कमजोर हो जाते हैं तथा उससे पायरियाका रोग भी हो जाता है। दाँतोंके बीचमें यदि फाँक हो गयी हो तो उन्हें नीम आदिके तिनकेसे निकालकर अच्छी तरह धो लेना चाहिये। अपने शास्त्रोंमें भोजनके अनन्तर सोलह कुल्ले करनेका विधान है। कुल्ला करते समय मुँहमें पानी रखकर दस-पंद्रह बार आँखोंको जलके छींटे देकर धोना चाहिये। दिनमें जितनी बार मुँहमें पानी ले उतनी बार यदि यह क्रिया की जाय तो आँखोंमें बड़ा लाभ होता है। भोजनके उपरान्त लघुशंका भी तुरंत करनी चाहिये। यह स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है, इससे मूत्रसम्बन्धी बीमारीका बचाव होता है।

भोजनके बाद दौड़ना, कसरत करना, तैरना, नहाना, घुड़सवारी करना, मैथुन करना और तुरंत ही बैठकर काम करने लगना स्वास्थ्यके लिये बहुत हानिकर है।

भोजनके बाद लगभग सौ कदम चलना चाहिये तथा चलनेके बाद लगभग १० मिनट दोनों घुटने पीछे मोड़कर वज्रासनमें बैठना चाहिये, तदनन्तर विश्रामकी मुद्रामें सीधे लेटकर ८ श्वास तथा दाहिनी करवटमें १६ श्वास और बायीं करवट लेटकर ३२ श्वास लेनेकी विधि है। इससे पाचनक्रिया ठीक रहती है तथा यह स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त लाभप्रद है।

शयन—रातमें भोजन करनेके तुरंत बाद सोना नहीं चाहिये। सोनेसे पूर्व सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय और भगवान्का स्मरण अवश्य करना चाहिये। सोनेके पूर्व लघुशंका आदिसे निवृत्त होकर हाथ-पैर धोकर उन्हें भलीभाँति पोंछकर स्वच्छ बिछावनपर पूर्व या दक्षिणकी ओर सिर करके सोना चाहिये। हवादार घर जिसमें भगवान्के चित्र टँगे हों, शयनके लिये उत्तम स्थान माना गया है। भगवान्का ध्यान करके बायीं करवट सोना स्वास्थ्यके लिये उत्तम है।

सामान्यतः ६-७ घंटे सोनेपर नींद पूरी हो जाती है। अभ्यास कर लेनेपर छः घंटेसे कम भी सोया जा सकता है।

सोनेके समय मुँह ढककर या मोजा पहनकर नहीं सोना चाहिये। रातमें जल्दी सोना तथा प्रातःकाल जल्दी उठना स्वास्थ्यके लिये विशेष लाभप्रद है। शयनका स्थान हवादार, स्वच्छ तथा साफ होना चाहिये।

स्वास्थ्यरक्षाके मूल आधार

स्वास्थ्यरक्षाकी दृष्टिसे शास्त्रोक्त दिनचर्या ऊपर प्रस्तुत की गयी है, वस्तुतः स्वास्थ्यरक्षाके पाँच मूल आधार हैं— (१) आहार, (२) श्रम, (३) विश्राम, (४) मानसिक सन्तुलन और (५) पञ्चमहाभूतोंका सेवन।

(१) आहार—आहारके सम्बन्धमें ऊपर विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है। आयुर्वेदमें तीन प्रकारके भोजनोंका उल्लेख मिलता है—(१) शमन करनेवाला भोजन, (२) कुपित करनेवाला भोजन तथा (३) सन्तुलन रखनेवाला भोजन। वात-पित्त और कफ—इन तीनोंके असन्तुलनसे रोगका जन्म होता है। ये तीनों रोगके प्रमुख कारण हैं। जो भोज्यपदार्थ इन तीनोंका शमन करते हैं वे शमनकारी और जो इन तीनोंको कुपित करते हैं वे कुपितकारी तथा जो तीनोंको सन्तुलित किये रहते हैं उन्हें सन्तुलनकारी भोजन कहा जाता है। इन तीनोंका स्वभावसे गहरा सम्बन्ध रहता है। इसलिये स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार भोजन करनेकी अनुमति दी जाती है। शारीरिक श्रम करनेवाले व्यक्तिके भोजनकी मात्रा और उसका प्रकार जो होगा वह मानसिक श्रमशील व्यक्तिके भोजनकी मात्रा और प्रकारसे भिन्न होगा।

आहारका सर्वोपरि सिद्धान्त तो यह है कि भूख लगनेपर आवश्यकतानुसार भूखसे कम मात्रामें भोजन करना चाहिये।

(२) श्रम—जीवनमें भोजनके साथ श्रमका कम महत्त्व नहीं है। आजकल श्रमके अभावमें आलस्य और प्रमादके कारण विभिन्न प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति हो रही है। ऐसे बहुत लोग हैं, जिन्हें जीवनमें कभी भी सच्ची भूखकी अनुभूति नहीं होती।

स्वस्थ रहनेके लिये दैनिक जीवनक्रममें कुछ घंटे ऐसे बिताने चाहिये जिससे सहज श्रम हो जाय। जो लोग स्वाभाविक रूपसे शारीरिक श्रम नहीं कर सकते, उन्हें व्यायाम, योगासन और भ्रमणके द्वारा श्रमशील होना चाहिये।

आजकल सिनेमा, होटल तथा क्लबोंमें जानेके लिये और टी.वी. आदि देखनेके लिये तो सरलतासे समय मिलता है, किंतु व्यायामके लिये समयके अभावकी शिकायत बनी रहती है। जो व्यक्ति श्रम या व्यायाम नियमित रूपसे करते हैं, उन्हें सामान्यतः दवा लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, वे स्वाभाविक रूपसे स्वस्थ रहते हैं।

(३) विश्राम—आहार तथा श्रमकी तरह विश्राम भी शरीरकी अनिवार्य आवश्यकता है। अत्यधिक परिश्रमसे थके व्यक्तिके विश्रामके पश्चात् नवजीवनका संचार होता है। रातकी गहरी नींदसे शरीरमें पुनः नयी शक्ति तथा मनमें नयी उमंगका प्रादुर्भाव होता है। विश्रामके बाद श्रम और श्रमके बाद विश्राम—दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं।

प्रायः लोग शरीरको तो विश्राम देते हैं, किंतु मनको विश्राम नहीं देते। शरीर एक स्थानपर पड़ा रहता है, किंतु मन इधर-उधर भटकता रहता है। नींदके समय शरीर शान्त रहता है किंतु मन स्वप्नमें फँसा रहता है। ध्यान तथा भगवन्नाम-स्मरणसे मनको विश्राम मिल सकता है। इसी प्रकार जीवनमें संयम-नियमका पालन करनेसे मनको शान्त रखनेमें सहायता मिलती है। निद्रा भी विश्रामका सर्वोत्तम साधन है। शरीर तथा मन—दोनोंको विश्राम मिलनेपर ही पूर्ण विश्रामकी स्थिति बनती है।

(४) मानसिक संतुलन—मानसिक विश्रामके बाद शारीरिक क्रिया होती है। शरीर सदा मनका अनुगामी होता है। मनमें संकल्प उठता है इसके बाद ही शरीरद्वारा क्रिया आरम्भ होती है। शुद्ध चित्तमें पवित्र संकल्प या विचार आते हैं और अशुद्ध चित्तमें बुरे संकल्प या विचार आते हैं। मन शरीररूपी यन्त्रका संचालक है। मन या चित्तको शुद्ध रखनेपर वही सही मार्गपर चलेगा। इसलिये शरीर शुद्धिकी अपेक्षा चित्तशुद्धिका महत्त्व अधिक है। चित्तशुद्धिके

बाद शारीरिक स्वास्थ्यका सुधार स्वतः स्वाभाविक रूपसे हो जायगा।

मनके शान्त तथा प्रसन्न रहनेपर सामान्यतः शरीर स्वस्थ रहेगा ही। मनमें अशान्ति, क्रोध, ईर्ष्या, राग-द्वेष बढ़नेपर शरीरको रोगी बननेसे रोका नहीं जा सकता। आजकल अनेक लोगोंको क्रोध, चिन्ता, भय, दुःख तथा मानसिक तनाव आदिके कारण रक्तचाप, मधुमेह तथा हृदय एवं मस्तिष्कसम्बन्धी बीमारियाँ होती रहती हैं।

चित्तको शान्त और प्रसन्न रखनेकी दृष्टिसे मानसिक आहारके रूपमें हमें अपने पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी शुद्धि करनी होगी। कानसे अच्छी बातें सुनें, भजन सुनें, आँखके द्वारा भी महापुरुषोंकी जीवनी पढ़ें, सत्-दृश्यका अवलोकन करें, मनमें अच्छे विचारोंको स्थान दें तथा बुरे विचारोंको त्यागें। तभी चित्तशुद्धिकी प्रक्रिया प्रारम्भ होगी।

वास्तवमें मानसिक स्वस्थता ही आरोग्यताकी मुख्य पूँजी है। मन तथा शरीर दोनों शुद्ध एवं स्वस्थ रहनेपर ही पूर्णरूपसे आरोग्य सुरक्षित रह सकता है। मानसिक सन्तुलन बनाये रखनेके लिये भगवान्का भजन, प्रार्थना, अपने इष्टका ध्यान, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय आदि मुख्य साधन हैं। स्वस्थ रहनेका अर्थ है अपने-आपमें स्थित होकर शान्त एवं प्रसन्न रहना। वास्तवमें शान्ति, प्रसन्नता अथवा जीवनका सम्पूर्ण रहस्य स्वमें स्थित आत्मतत्त्वमें विद्यमान रहना है जो उस परम तत्त्वका ही अंश है।

(५) पञ्चमहाभूतोंका सेवन—यह शरीर पञ्चमहाभूत अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीसे निर्मित है। जीवनकी रक्षाके लिये इन पाँचों तत्त्वोंकी अनिवार्य आवश्यकता है।

[१] आकाश—जैसे हमारे बाहर सर्वत्र आकाश है वैसे ही हमारे शरीरके भीतर भी आकाश है। इसीलिये शरीरके भीतर असंख्य जीवनकोष हैं, जो गतिमान हैं। रक्तसंचार या वायुसंचारके लिये शरीरमें खाली जगह अर्थात् आकाशकी आवश्यकता अनिवार्य है।

[२] वायु—प्रायः जहाँ आकाश है वहाँ वायु भी है। चूँकि आकाश सर्वत्र है अतः वायु भी सर्वत्र है। वायुके

बिना एक पल भी व्यक्ति रह नहीं सकता। जल और अन्नके बिना तो कुछ घंटों या दिनोंतक प्राण बच सकते हैं, किंतु वायुके बिना प्राणी कुछ ही क्षणोंमें प्राण त्याग देता है। वायुका सेवन मनुष्य चौबीस घंटे सतत करता है, इसलिये आकाश तथा वायुका समान महत्त्व है।

जटिल रोगमें जब औषधि असर नहीं करती तब रोगीको वायु-परिवर्तन कराकर स्वास्थ्यलाभ कराया जाता है। जहाँ दवा काम नहीं करती, वहाँ हवा काम कर जाती है—ऐसी कहावत प्रचलित है। प्रकृतिने जीवनकी रक्षाके लिये प्रचुर मात्रामें हवा प्रदान कर रखी है।

[३] तेज—तेजका पर्यायवाची शब्द अग्नि या उष्मा है। जबतक प्राणी जीवित है तबतक शरीरमें गरमी रहती है। मृत्यु होनेपर शरीर ठंडा हो जाता है। जीवनके साथ तेज या उष्माका तथा सूर्यका घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्यकी गरमीसे प्रकृति प्राणिमात्रके लिये फल-फूल, कन्द-मूल आदि पकाती है। सूर्यकिरणोंमें जन्तुनाशक गुण भी है। विभिन्न रोगोंमें सूर्यकिरण-चिकित्सा भी की जाती है। स्वास्थ्यलाभकी दृष्टिसे प्रातःकाल तथा सायंकालमें जब किरणोंमें गरमी कम होती है तब सूर्यका सेवन खुले बदन करना हितकर है। अतः तेज भी जीवनके लिये अत्यन्त उपयोगी है।

[४] जल—मानवको जलकी प्रचुर आवश्यकता है। मनुष्यके आहारमें ठोस पदार्थ कम और तरल पदार्थ अधिक मात्रामें रहता है। स्नान, भोजन, स्वच्छता और सफाई—सभी कार्य जलके बिना सम्भव नहीं हैं। पशुपालन, खेती-बारी आदि सभी कार्य जलपर ही निर्भर करते हैं। अतः जल भी जीवन है।

[५] पृथ्वी—पृथ्वीमाताकी गोदमें हम जन्मसे लेकर मृत्युतक निरन्तर रहते हैं। पृथ्वी अर्थात् मिट्टीमें आकाश, वायु, जल तथा सूर्यके सहयोगसे अन्न, फल, मूल, वनस्पति और ओषधियों आदिकी उत्पत्ति होती है और इसीसे सभी प्राणियोंका भरण-पोषण तथा रोगोंकी चिकित्सा होती है। मिट्टीके विभिन्न प्रयोगोंसे अनेक रोगोंकी चिकित्सा होती है। मिट्टीकी पट्टी प्रायः सभी

रोगोंमें उपयोगी है।

यह शरीर पञ्चमहाभूतोंसे बना है इसलिये प्रकृतिमें आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी-तत्त्वकी प्रचुरता है। जिससे प्राणी मुक्तभावसे उनका उपयोग करके नीरोग और स्वस्थ रह सके।

कल्याणकामी मनुष्यके लिये आयुर्वेदशास्त्रके अन्तमें कुछ उपदेश प्रदान किये गये हैं—

मानवको सभी प्रकारके पापोंसे बचना चाहिये। हितैषी मित्रोंको समझना तथा वञ्चक मित्रोंसे दूर रहना चाहिये। अभावग्रस्त, रुग्ण एवं दीनजनोंकी सहायता करनी चाहिये। क्षुद्रातिक्षुद्र (चींटी) आदि प्राणियोंको अपने समान समझना चाहिये। देवता, गौ, ब्राह्मण, वृद्ध, वैद्य, राजा तथा अतिथिका सतत सत्कार करना चाहिये। याचकोंको विमुख नहीं जाने देना चाहिये और कठोर वचन कहकर उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। अपकार करनेवालेका भी निरन्तर उपकार करनेकी ही भावना रखनी चाहिये। फलकी कामनासे निरपेक्ष रहकर सम्पत्ति और विपत्तिमें सदा समबुद्धि रखनी चाहिये।^१ उचित समयपर अति संक्षेपमें किसीसे भी हितकर बात कहनी चाहिये—‘काले हितं मितं ब्रूयात्’। मनुष्यको करुणार्द्र, कोमल, सुशील तथा संशयरहित होना चाहिये तथा किसीपर अत्यन्त विश्वास भी नहीं करना चाहिये। किसीको अपना शत्रु मानना तथा किसीसे शत्रुता करना दोनों अच्छे नहीं हैं।^२ सदैव सबसे विनम्र व्यवहार करना चाहिये। व्यर्थमें हाथ-पैर हिलाना, लगातार सूर्यकी ओर देखना तथा सिरपर भार ढोना आदि कार्य न करे, अत्यन्त चमकीली वस्तुओंकी ओर देरतक नहीं देखना चाहिये, इससे अन्धत्व आनेका भय होता है। सूर्योदय तथा सूर्यास्तके समय सोना, भोजन तथा स्त्रीगमन आदि कार्य करना निषिद्ध है। हानिप्रद पेय नहीं पीना

चाहिये। किसी भी कार्यमें अति नहीं करनी चाहिये—‘अति सर्वत्र वर्जयेत्’।

बुद्धिमान् व्यक्तिको दूसरोंसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। समस्त प्राणियोंके प्रति दयाभाव तथा सत्पात्रको दान देनेकी भावना रखनी चाहिये। हिंसा, चोरी, पिशुनता, कठोरता, झूठ, दुर्भावना, ईर्ष्या, द्वेष आदि पापोंसे तथा शरीर, मन और प्राणीके द्वारा किसी भी प्रकारके पापोंसे बचना चाहिये। अन्यथा व्याधिरूपमें उनका दण्ड भोगना पड़ता है।

संक्षेपमें निष्कर्ष यह है कि जीवनके उत्कर्षके लिये तथा अपने कल्याणके लिये आचारधर्म अर्थात् सदाचारका पालन ही मनुष्यका मुख्य धर्म है—‘आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः’ (विष्णुसहस्रनाम श्लोक १३७)। जिसका अनुशीलनकर व्यक्ति अनेकानेक आपदाओं, रोगों, अभिचारोंसे सुरक्षित रहकर पूर्ण आरोग्य तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभीको प्राप्त करनेमें सक्षम हो जाता है।

जो व्यक्ति सदैव हितकर आहार-विहारका सेवन करता है, सोच-समझकर कार्य करता है, विषयोंमें आसक्त नहीं होता, जो दानशील, समत्व बुद्धिसे युक्त, सत्यपरायण, क्षमावान्, वृद्धजनोंकी सेवा करनेवाला है, वह नीरोग होता है—

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।

दाता समः सत्यपरः क्षमावानामोपसेवी च भवत्यरोगः॥

(चरक)

मन, बुद्धि और चित्त जिसका स्थिर है, ऐसा प्रसन्नात्मा व्यक्ति ही स्वस्थ है—

‘प्रसन्नात्मेन्द्रियग्रामो स्थिरधीः स्वस्थमुच्यते’।

ये सभी बातें अथवा विशेषताएँ आचारधर्मके पालनसे ही सम्भव हैं और यही स्वस्थ रहनेकी रामबाण दवा है।

—राधेश्याम खेमका



१- आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्॥

अर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् । विमुखात्रार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत्॥

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ । संपद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्येत्फले न तु॥ (अ०ह०सू० २। २३—२५)

२- न कञ्चिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम्॥ (अ०ह०सू० २। २७)